Vol. 9
Issue 2
15 July 2018

ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net

A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research

शोध संचयन

कृष्ण बलदेव वैद के उपन्यासों में चित्रित यथार्थ-बोध

बीज शब्द :

कृष्ण बलदेव वैद, हिन्दी उपन्यास, यथार्थबोध, 'काला कोलाज', 'उसका बचपन', 'एक नौकरानी की डायरी'।

कृष्ण बलदेव वैद समसामयिक युग के एक प्रमुख यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। ये साहित्य में यथार्थ के चित्रण को उतना ही आवश्यक मानते हैं, जितना सामान्य जीवन में। इसी कारण इन्होंने अपने उपन्यासें में समसामयिक समाज, युग एवं परिवेश के यथार्थ का स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण किया है। यहाँ पर इन्होंने मुख्यत: घोर गरीबी, भुखमरी, अभावग्रस्तता, मद्यपानता, भिक्षावृत्ति, वृद्धावस्था की विवशताएँ, एकाकीपन एवं अजनबीपन, अति कामुकता एवं असामाजिक काम-संबंध, पारस्परिक विद्वेष एवं हिंसा की वृत्ति, धर्मांधता, दुर्गंध, मल-मूत्र जैसे अनेक यथार्थों का चित्रण किया है। इनके उपन्यासों में चित्रित यह यथार्थ काल्पनिक या सुना-सुनाया नहीं है अपितु लेखक द्वारा स्वयं देखा, भोगा और अनुभव किया हुआ है, इसीलिए यह अधिक स्वाभाविक, विश्वसनीय और वास्तविक लगता है। कृष्ण बलदेव के उपन्यासों में चित्रित यह यथार्थबोध समाज के यथार्थ को महिमामण्डित करने के बजाए करुणा और उससे मुक्ति की आकांक्षा हेतु छटपटाहट को जन्म देता है।

*****

डॉ० मुकेश कुमार
एम0फिल0, पीएच0डी0, डी0लिट्0
राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय,
रामपुरा, हिसार (हरियाणा)।
E-mail: mukeshyadavdhana@gmail.com

कृष्ण बलदेव वैद के उपन्यासों में चित्रित यथार्थ-बोध

साहित्य समाज की एक ऐसी ज्ञानेंद्रिय होती है, जो उसे उसकी वास्तविकता का ज्ञान करवाती है। जब साहित्यकार साहित्य में किसी भी स्थिति, विषय या घटना का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करता है, तो उसे ही यथार्थ कहा जाता है। साहित्य में किसी भी स्थिति, घटना या विषय का ठीक या वास्तविक चित्रण ही समाज के लिए उपादेय और साहित्य के लिए प्रासंगिक होता है। इसी वास्तविक चित्रण के द्वारा ही किसी समाज की स्वाभाविक प्रकृति, प्रवृत्ति एवं विकृति का बोध होता है, जिससे वह समाज प्रेरणा लेते हुए वर्तमान व भविष्य के प्रति तैयार एवं सजग है। हिंदी साहित्य के समकालीन उपन्यासकार कृष्ण बलदेव वैद समाज के ऐसे ही यथार्थ का बोध करवाने वाले एक प्रमुख कथाकार हैं।

कृष्ण बलदेव वैद साहित्य में यथार्थ के चित्रण को अत्यावश्यक मानते हैं। इनके अनुसार साहित्यकार के लिए यथार्थ उतना ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होता है, जितना कि वास्तविक जीवन में। जिस प्रकार 'व्यक्ति' सामान्य जीवन में यथार्थ को अनदेखा या अनसुना नहीं कर सकता, उसी प्रकार 'साहित्यकार' अपने साहित्य में यथार्थ के चित्रण को अनदेखा या अनसुना नहीं कर सकता। लेखक स्वयं यथार्थ के प्रति अति संवेदनशील है। अपनी इसी संवेदनशीलता के विषय में वे स्वयं कहते हैं कि ''कलाकार को मलमूत्र, दुर्गंध, बदसूरती, बीमारी, घोर गरीबी से न तो परहेज करना चाहिए, न ही उन पर परदा डालना चाहिए, न ही उन्हें 'रोमेंटिसाइज' करना चाहिए। हर कलाकार की दृष्टि इन चीजों की तरफ नहीं जाती और यह जरूरी भी नहीं कि जाए। मेरी दृष्टि इनकी तरफ जाती है, और मैं इसे अपने से कोई बुरी या अच्छी बात नहीं समझता। अगर मैं शुद्ध यथार्थवादी होता तो यही कहकर खामोश हो जाता कि ये सारी चीजें चारों ओर मुझे दिखाई देती है, मैं उनसे आँख चुराऊँ तो क्यों और कैसे? कलाकार सिर्फ सौंदर्य, सुख और संतोष से ही प्रेरणा नहीं पाता, उन्हीं को अपनी कला का केन्द्र नहीं बनाता, असौन्दर्य, दुख और असंतोष से भी प्रेरित हो सकता है, उन्हें भी अपनी कला का केन्द्र बना सकता है।''[1]

साहित्यकार अपने साहित्य में चित्रित यथार्थ बोध के माध्यम से हमारी उन भावनाओं और संवेदनाओं को भी जागृत एवं झंकृत करता है, जो हमें साहित्य, समाज व परिवेश से जोड़ती हैं। लेखक कृष्ण बलदेव वैद समसामयिक यथार्थों के प्रति पूरी तरह से सजग एवं संवेदनशील हैं। लेखक की इसी सजगता एवं संवेदनशीलता का परिचय देते हुए प्रसिद्ध समीक्षक श्री रमेश दवे लिखते हैं कि ''स्त्री, बुढ़िया, कुबड़ा या विकलांग, भौतिक रूप से अगर उनकी रचनाओं में मौजूद हैं, तो वैद अपने आसपास की दुनिया के यथार्थों से बेख़बर नहीं हैं।''[2] लेखक के साहित्य में चित्रित यह यथार्थ केवल सुना-सुनाया या काल्पनिक नहीं है अपितु लेखक द्वारा वह स्वयं देखा, भोगा एवं अनुभव किया हुआ है। इसी संदर्भ में लेखक स्वयं कहता है कि ''निजी अनुभव को मैं संकीर्ण आत्मकथात्मक मायनों में नहीं ले रहा। उसमें भोगे हुए यथार्थ के अलावा वह यथार्थ भी है, जिससे मैं बरसों भागता रहा।''[3]

लेखक कृष्ण बलदेव वैद का संपूर्ण साहित्य इसी भोगे और भागे हुए यथार्थ के धरातल से प्रस्फूटित एक ऐसी स्रोतस्विनी है, जो कहीं क्षीण और मंद गति से प्रवाहित होती रहती है तथा कहीं पर यह प्रखर और प्रबल वेग के साथ। इनका उपन्यास साहित्य इसी स्रोतस्विनी की एक ऐसी ही प्रखर व प्रबल धारा है, जो मार्ग में आने वाले जड़-चेतन सभी को आत्मसात् करती चलती है। इनके उपन्यास समाज व परिवेश के इसी जड़-चेतन का साकार, जीवंत एवं यथार्थ चित्रण करते हैं। यहाँ पर घोर गरीबी, भूखमरी, पारिवारिक असंतोष, व्यक्ति एवं जनसमूह की पारस्परिक ईर्ष्या, विद्वेष और हिंसा की भावना, प्रेमांधता, धर्मांधता, दुर्गंध, कीचड़, मल-मूत्र आदि के यथार्थ का स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण हुआ है। लेखक के 1957 ई0 में प्रकाशित प्रथम उपन्यास 'उसका बचपन' में इसी प्रकार के कटु एवं भयावह यथार्थ का चित्रण हुआ है। इसी संदर्भ में लेखक ने स्वयं कहा है कि ''बावजूद इस बात के कि 'उसका बचपन' में भी घोर गरीबी का, घोर निराशा का, घोर तनाव का, घोर बिखराव का चित्रण है ....।''[4]

'उसका बचपन' उपन्यास के केन्द्र में 6-7 वर्षीय बालक बीरू और उसका परिवार है। बीरू एक निहायत ही संवेदनशील बच्चा है। वह परिवार, समाज व परिवेश में जो भी कुछ देखता एवं भोगता है, उसी को वह यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करता चलता है। उसका परिवार अभावों का एक अजायबघर हैं, जहाँ पर हर समय कोई न कोई अभाव बना ही रहता है। इसी के साथ परिवार में सदैव उसके माँ, बाबा (पिता) के बीच लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट, गाली-गलौच, तनाव एवं टकराव की स्थिति भी बनी

1. कृष्ण बलदेव वैद, 'जवाब नहीं', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2002, पृ0 34-35

2. रमेश दवे, 'कृष्ण बलदेव वैद : गल्प का विकल्प', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2004 पृ0 6

3. कृष्ण बलदेव वैद, 'जवाब नहीं', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2002, पृ0 47

4. वही, पृ0 59-60

रहती है। परिवार की इस विकृत एवं भयावह स्थिति के उत्तरदायी स्वयं उसके बाबा की नशे, जुए, पर-स्त्रीगमन जैसी स्वाभाविक मानवीय दुर्बलताएँ हैं। उसके बाबा सरकारी नौकरी में होते हुए भी, उनका परिवार सदैव अभावों में त्रस्त रहता है। कई बार तो यह अभाव इतना अधिक बढ़ जाता है कि घर में आटे-तेल के अभाव में दीया और चूल्हा तक नहीं जल पाता है। यहाँ तक कि बच्चों तक को भी भूखा ही सोना पड़ता है।

एक बार बीरू की बड़ी बहन देवी और उसके चाचा रघुपत किसी दूसरे गाँव से उनके पास आने वाले होते हैं। बाबा द्वारा जब माँ को उनके आने का समाचार दिया जाता है, तो माँ उनको आटे, तेल, दाल जैसी अनेक अभावग्रस्त वस्तुओं के बारे में झुँझलाते हुए बताती है। माँ की झुँझलाहट और अभावों को सुनकर बाबा क्रोध में आकर कड़कने लगते हैं। इसी के प्रत्युत्तर में माँ कहती है कि - ''कड़कने से मैं खुद तो आटा नहीं बन जाऊँगी? लकड़ियाँ भी गीली हैं, दियासलाई भी नहीं है। कितने दिनों से आग माँग-माँगकर गुज़ारा कर रही हूँ।''[5] इसी बात को लेकर उन दोनों में कहा-सुनी इतनी बढ़ जाती है कि बाबा मार-पीट और गाली-गलौच पर उतर आते हैं और अंत में थक-टूट कर वे स्वयं अपना ही माथा जोर-जोर से पीटने लगते हैं। उनकी लाचारी और विवशता को देखकर दादी याचना भरे स्वर में बाबा से कहती है कि- ''बस करो बेटा, क्या टुकड़े-टुकड़े कर डालोगे अपने? बस करो, तुम जाओ। मैं कर लूँगी आटे का इंतजाम।''[6] इसके बाद बाबा, बीरू को नत्थू की दुकान पर उधार में आटा लाने के लिए भेजते हैं। उधार देने के बजाय नत्थू बीरू को देखते ही ज़ोर-ज़ोर चिल्लाने और गालियाँ देने लग जाता है। परिणामस्वरूप बीरू को वहाँ से खाली हाथ ही भागना पड़ता है। इसके बाद देर रात बाबा शराब के नशे में लड़खड़ाते हुए घर लौटते ही रोटी माँगते हैं। रोटी न मिलने पर वे फिर से माँ के साथ मार-पीट व गाली-गलौज करने लगते हैं। उनका यह लड़ाई-झगड़ा गली और मोहल्ले तक पहुँच जाता है। उस रात पूरे परिवार को ही भूखा सोने को विवश होना पड़ता है।

परिवार की ऐसी बदहाली एवं भुखमरी की भयावह स्थिति के बाद भी उसके बाबा की शराब व जुए की लत निरंतर जारी रहती है। बीरू एक दिन माँ के कहने पर बाबा का पीछा करते हुए, उसके उस ठिकाने पर पहुँच जाता है, जहाँ पर वे शराब पीते एवं जुआ खेलते हैं। बीरू वहाँ के यथार्थ का चित्रण करते हुए कहता है कि ''उनके हाथ में तीन पत्ते हैं। वह अपने पास पड़े पैसों के ढेर में से पैसे उठाकर फेंकते जाते हैं। ... उसके सामने बैठा आदमी पत्ते खोल देता है और बीच में पड़े पैसे समेटकर उठाने लगता है। बाबा अपने पत्ते फेंककर गिलास उठाकर मुँह से लगा लेते हैं।''[7] इसके कुछ ही देर बाद वहीं पर उसकी माँ भी पहुँच जाती है और फिर वहीं पर उन दोनों में परस्पर वही गाली-गालौज और मार-पीट होने लगती है। वे वहाँ पर लोगों के सामने एक तमाशा बन जाते हैं। इस घटना के बाद परिवार में कई दिनों तक तनाव एवं टकराव की स्थिति बनी रहती है, जिसका सीधा प्रभाव उनके बच्चों पर पड़ता है। इससे स्वयं बीरू को ही परिवार में न तो समय पर खाना ही मिल पाता है और न स्कूल के लिए किताबें ही। इसी के साथ स्कूल में भी उसे अपने साथियों व अध्यापकों की फब्तियों का भी शिकार होना पड़ता है। ये सब परिवार के अर्थाभाव एंव बाबा की लतों का ही एक परिणाम है।

परिवार में इसी अर्थाभाव का भयावह परिणाम उस समय दिखाई देता है, जब एक दिन दवा-दारू के अभाव में बीरू के छोटे भाई (काका) की मौत हो जाती है। उसकी माँ स्वयं उस भयावह यथार्थ का चित्रण करते हुए कहती है कि ''- दवाई क्या करती! इन्हें तो वहाँ भी मिल गई बुरी संगत। गए थे माँ की गमी में और पीने लगेशराब। दवाई कौन करवाता? मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी।''[8] माँ को काका की मौत का इतना दुख नहीं, जितना कि अपने सोने के कड़ों के चले जाने का। चाचा के गाँव से लौटते समय पहले तो बाबा ने डाँट-डपटकर माँ से कड़े ले लिए और फिर जेहलम के स्टेशन पर उसे छोड़कर स्वयं लापता हो गए थे। इस घटना को वह गली व मोहल्ले वालों को रो-रोकर व चिल्ला-चिल्लाकर सुनाती फिरती है। इसके लिए वह कभी बाबा को कोसती है और कभी स्वयं को। इतना ही नहीं इस घटना के यथार्थ की अति तो तब होती है, जब एक दिन बीरू के बाबा खाली हाथ वापस घर लौट आते हैं। उनको देखते ही माँ चिल्लाने लगती है और छाती पीट-पीटकर उनसे अपने कड़े माँगती है। वे चुपचाप खड़े देखते रहते हैं। बीरू उस समय के अति नग्न यथार्थ का चित्रण करते हुए माँ के हीशब्दों में कहता है कि- ''कहाँ हैं मेरे कड़े? कहाँ हैं? मैं छाती पीट-पीटकर अपनी जान दे दूँगी, नहीं तो मुझे मेरे कड़े वापस करो! अभी! इसी घड़ी! ... माँ अचानक पूरे जोर से अपनी छाती पीटने लगती है। अपनी कमीज़ खींचकर चर्र से चीर देती है। ज़ोर-ज़ोर से अपने पाँव ज़मीन पर पटकती है। बाल नोच लेती है। ... माँ बेतहाशा छाती-पीटती

5. कृष्ण बलदेव वैद, 'उसका बचपन', राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली, 2012, पृ0 23
6. वही, पृ0 25
7. वही, पृ0 65
8. वही, पृ0 131

चली जा रही है। कह रही है- मैं आज अपने टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगी! ... मैं आज तुम्हारे सर चढ़कर मर जाऊँगी! ... नहीं तो बताओ मेरे कड़े कहाँ हैं? बताओ, बताओ, बताओ!''[9] माँ के इस हाहाकार, चीत्कार, बेबसी और लाचारी का सामना न कर पाने के कारण बाबा स्वयं को कमरे में अकेले बंद कर लेते हैं। अब कोई अनहोनी की आशंका के कारण माँ और भी अधिक जोर से चिल्लाने लगती है, जिसको सुनकर घर पर लोगों की भीड़ जमा हो जाती है। अब वह कड़ों को भूलकर बाबा को बचाने के लिए लोगों से कमरे का दरवाजा तोड़ने के लिए चिल्ला रही है। इस घटना से आहत होकर उसी समय बीरू भी रसोई में पड़ी एक रस्सी से अपना गला घोंटकर मरने की एक असफल कोशिश करते हुए वहीं पर बेहोश होकर गिर जाता है। यहाँ पर लेखक ने भूख और अभाव से त्रस्त एक ऐसे परिवार के यथार्थ का नग्न चित्रण किया है, जहाँ व्यक्ति के जीवन और संबंधों का कोई अर्थ नहीं है। ऐसे लोग अपने जीवन व संबंधों को जीने व निभाने की जगह, उन्हें केवल ढोने को अभिशप्त होते हैं।

ऐसे ही यथार्थ का नग्न चित्रण इनके 'काला कोलाज' उपन्यास में भी मिलता है। उपन्यास की एक वृद्धा पात्र दोहरी माई भी इसी प्रकार जीवन भर गरीबी एवं भूख से ही लड़ती रहती है। जैसा कि उसके नाम से ही पता चलता है कि वह सीधे खड़े होकर चल भी नहीं पाती है। वह बड़ी मुश्किल से झुककर ही चल पाती है। वह दिन भर घूरे पर बैठकर कचरा बीनती रहती है। कचरा बीनकर वह जो भी कुछ कमाती है, उसे उसकाशराबी नाती छीनकर ले जाता है। फलत: पेट भरने के लिए उसे कचरे के ढेर पर पड़ी जूठन का ही सहारा लेना पड़ता है। उपन्यास में एक स्थान पर लेखक उसकी अतृप्त भूख और खाने के दृश्य का यथार्थ चित्रण करते हुए कहता है कि ''वह घूरे से कुछ कदम दूर गंदे काग़जों, आम और जामुन की गुठलियों, सूखे सड़े पत्तों, चिथड़ौं, वग़ैरह से अटी नाली के किनारे बैठी थी, ... एक अख़बारी काग़ज उसके सामने थाल की तरह बिछा हुआ था। ... उसमें चावल थे, रोटी के कुछ टुकड़े भी थे, प्याज के छिलके थे, शायद अमरूद और केले भी थे, कुछ कीचड़ सा भी था, मूली के पत्ते थे, पापड़ था, कुछ पीले फूल भी थे, लड्डू थे, आम का आचार था, हड्डियाँ थीं, और शायद अल्लम ग़ल्लम और भी जो मुझे दिखाई न दिया हो, ... जो चीज बुढ़िया के हाथों को अखरती थी, उसे वह कभी कुत्ते की तरफ फेंक देती, कभी नाली में। बाक़ी के मवाद को मल-मसलकर वह अपने मुँह में डालती जा रही थी, कुछ इस तेजी से जैसे चबाये बग़ैर ही सब कुछ निगलती जा रही है।''[10] इससे क्रूर और निर्मम यथार्थ भला और क्या हो सकता। एक आवारा कुत्ते और दोहरी माई के जीवन में कोई विशेष अंतर नहीं है। ये दोनों ही केवल पेट की आग बुझाने के लिए ही जीते हैं। रहने के नाम पर भी उसके पास वहीं घूरे के पास ही एक टूटा- फूटा खोखा-सा ही है, जिसमें पड़कर वह रात काटती है। जीवन की ऐसी विषम स्थितियों में उसका जीवन एक अभिशाप से कम नहीं है।

'काला कोलाज' उपन्यास में ही एक स्थान पर लेखक ने शहर की गंदी बस्तियों में रहने वाली वेश्या समाज के मार्मिक यथार्थ का भी जीवंत चित्रण किया है। लेखक एक दिन जब उस बस्ती के निकट से गुज़रता है, तो उसे अतीत की वे सब बातें याद आ जाती हैं। लेखक वहाँ के अतीत की घटनाओं के यथार्थ की अभिव्यक्ति करते हुए कहता है कि ''वही गन्दी सड़क अब भी यही कहीं होगी। ... उस सड़क में से तीन तंग और बदबूदार गलियाँ फूटा करती थीं। गन्दी और अन्धी। किसी कोढ़ी की पिघलती हुई अंगुलियों की तरह। उनमें कई बीमार और बूढ़ी और बेसूरत वेश्याएँ अपना धन्धा करती थीं। उनकी कोठरियों में से खाँसी, गाने और गालियों का मिलाजुला शोर देर रात तक फूटता रहता था। उन गलियों में मैं अक्सर जाया करता था। यथार्थ की तलाश में। उस यथार्थ को भोगने की हिम्मत नहीं होती थी।''[11] यथार्थ सदैव ही इतना क्रूर एवं भयावह होता है कि इसका सामना करना हरेक के वश की बात नहीं है। यहाँ पर चित्रित उपन्यास का नायक उन्हीं में से एक है।

'एक नौकरानी की डायरी' उपन्यास में भी लेखक ने नौकरानी समाज के ऐसे ही क्रूर एवं भयावह यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है। उपन्यास के केन्द्र में नौकरानी शानो (शान्ती) का परिवार है, जो युग जीवन की अनेक समस्याओं से त्रस्त है। उसके परिवार में उसकी माँ (आशा माई), उसके बीमार बापू और एक शराबी भाई है। वह और माँ दोनों शहर में घरों में नौकरानी का काम करती है। घर के नाम पर उनके पास किराये की एक टूटी-फूटी कोठरी सी है, जो बारिश के दिनों में टपकती रहती है। इससे पहले वे भी दूसरी नौकरानियों की ही तरह झुग्गी में रहते थे। उसकी माँ को दुख और विपत्तियों ने ही अब तक जीवित रखा है। बीमार पड़ने से पहले बापूशराब पीकर निरंतर माँ के साथ गाली गलौच और मारपीट करता था। वह न तो खुद ही कोई काम करता था और न ही माँ को करने देता था। इसके बाद भी वहशराब के लिए माँ से निरंतर पैसे मांगता रहता था। ऐसी विकट

9. वही, पृ0 146

10. कृष्ण बलदेव वैद, 'काला कोलाज', वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1994, पृ0 185-186

11. वही, पृ0 82-83

स्थिति मेंशानों का बचपन आर्थिक बदहाली, अभाव और भुखमरी में ही बीता था। यहाँ तक कि एक बार तो बच्चों का पेट भरने के लिए उसकी माँ को भीख तक भी माँगनी पड़ती है। स्वयंशानों के हीशब्दों में, ''एक बार उसे हम सब का पेट भरने के लिए हनुमान मन्दिर के सामने खड़े होकर भीख मांगनी पड़ी थी। तब बापू घर से गायब था और माँ का काम छूटा हुआ था। हम तीनों सब छोटे थे। तब हमारी झुग्गी हनुमान मन्दिर के पास कहीं हुआ करती थी।''[12]

शानों की बड़ी बहन पारो और नौकरानी उर्मिला के घर-परिवार की भी ऐसी ही स्थिति है। उनके पति भीशराबी हैं और उनसे निरंतर पैसों की माँग करते रहते हैं। यदि वे पैसे न दें, तो वे उनके साथ भी वहीं गाली-गलौच और मारपीट करते रहते हैं। यहाँ तक कि वे उनके चरित्र पर भी संदेह करते रहते हैं। ऐसी विकट स्थितियों में उनका जीवन अत्यंत दूभर हो जाता है। इतना ही नहीं पारो तो असहनीय दुख के कारण पति का घर तक भी छोड़ देती है और मायके में रहने लग जाती है। उन सभी की इसी यथास्थिति को स्पष्ट करते हुएशानो कहती है कि ''सभी नौकरानियों के घर वाले उन परशक करते हैं, समझते हैं उनकी बीवियाँ, साहबों के साथ रंगरलियाँ मनाती हैं। बापू, माँ पर शक किया करता था। जब पारों और मैं छोटी थीं तो वह माँ को पीटते वक़्त बार-बार उसे रण्डी कहता था। चिल्ला-चिल्लाकर कहता था, तू काम करने नहीं जाती, पेशा करने जाती है। उर्मिला कहती है, उसका घरवाला भी हर रात यही तमाशा करता है। ... मेरा जीजा खुद तो हर राह जाती को हिरस से देखता है लेकिन पारो कुन्दन से भी हँस कर बात करे तो उसे आग लग जाती है।''[13]

बानो के जीवन का यथार्थ तो और अधिक विद्रूप है। वह बंगाल से दूर दिल्ली जैसे बड़ेशहर में अकेली कुछ कमाने के लिए आई हुई है। पैसा बचाने के लिए उसे मालिकों की जूठन तक खानी पड़ रही है। इस प्रकार वह माँ को भेजने के लिए एक-एक पैसा जोड़कर कुल सात सौ रूपये जमा कर लेती है। उस पर दुखों का पहाड़ तो तब टूटता है जब एक रात उसकी झुग्गी में चोरी हो जाती है, जिसमें उसके सारे पैसे चले जाते हैं। इसके कुछ ही दिन बाद एक रात भारी बारिश में उसकी झुग्गी भी बैठ जाती है और वह दर-दर भटकने पर विवश हो जाती है।

इसी प्रकार लेखक ने 'गुज़रा हुआ ज़माना' उपन्यास में भारत विभाजन के समय की क्रूर एवं निर्मम त्रासदी के यथार्थ का बड़ा ही कारूणिक एवं मार्मिक चित्रण किया है। इनका यह चित्रण अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक है। इसका कारण यह है कि त्रासदी के उस क्रूर एवं भयावह यथार्थ को स्वयं लेखक ने भोगा एवं अनुभव किया है। इसी संदर्भ में स्वयं लेखक कहता है कि ''देश विभाजन के समय मैं बीस बरस का था। ... हमारे परिवार को एक मुसलमान दोस्त ने ही भूसे की एक कोठरी में पनाह दी थी। वह खुद मार-काट में शामिल था, लेकिन हमें मारकाट से उसी ने बचाया था। उसी कस्बे के अनुभव के आधार पर, मैंने उसका बचपन और गुज़रा हुआ ज़माना की रचना की।''[14] लेखक ने अपने अनुभवजनित इसी यथार्थ को बीरू और उसके परिवार के माध्यम से 'गुज़रा हुआ ज़माना' उपन्यास में चित्रित किया है। विभाजन के समय दंगों की आग यकायक नहीं भड़की थी अपितु यह तो वर्षों से ईर्ष्या, विद्वेष और बदले की भावना के रूप में हिंदू व मुसलमान दोनों के हृदयों में एक चिंगारी के रूप में सुलग रही थी। इस चिंगारी को स्वार्थी राजनेताओं की महत्त्वाकांक्षा और अफवाहों की हवा ने भड़का दिया, जिसने पूरे देश को अपनी विकराल लपटों से झुलसा दिया। दंगों की आशंकाओं के चलते समाज व देश केशुभेच्छुओं नेशहरों और कस्बों में अमन सभाओं के द्वारा दंगों को रोकने के भरसक प्रयास भी किए गए लेकिन स्वार्थी राजनेताओं की कुचालों के चलते सब विफल हो गए। बीरू के क़स्बे में इसी प्रकार की जनसभा के बीच में ही दो व्यक्ति आकर अवाम को मज़हब के नाम पर भड़काना शुरू कर देते हैं। उनके अनुसार वे मुसलमान हैं, इसी कारण हिन्दुओं ने उनको वहाँ से लूट-पीट कर जबरदस्ती निकाला है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो उनकी औरतों के साथ भी बदसलूकी की है। इसी प्रकार की और अफवाहें भी उड़ने लगती हैं और दंगे भड़क उठते हैं। परिणामस्वरूप हज़ारों की संख्या में लोग इन दंगों की भेंट चढ़ जाते हैं और लाखों निर्वासित हो जाते हैं। उपन्यास में लेखक ने इस समूचे घटनाक्रम के यथार्थ का बीरू के माध्यम से बड़ा ही विशद एवं सजीव चित्रण किया है। उपन्यास में एक स्थान पर बीरू त्रासदी के समय लोगों के धार्मिक उन्माद और उनकी हिंसक पाशविकता के यथार्थ का मार्मिक चित्रण करते हुए, उन्हीं केशब्दों में कहता है कि ''पहले मरदों को मारो, फिर औरतों और बच्चों को। किसी पर रहम मत करो! किसी की फरियाद मत सुनो। बहरे हो जाओ!''[15] इसी क्रम में वह आगे कहता है कि ''लाशों की गिनती। कितने हिंदु, कितने सिख। कुछ तो मुसलमान भी होंगे। एक के बदले में दस-दस मारने के इरादे। उस तरफ हमारे तो

12. कृष्ण बलदेव वैद, 'एक नौकरानी की डायरी', राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली 2002, पृ0 48
13. वही, पृ0 65
14. कृष्ण बलदेव वैद, 'जवाब नहीं', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2002, पृ0 135
15. कृष्ण बलदेव वैद, 'गुज़रा हुआ ज़माना', वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1997, पृ0 463

इतने मारे गये, इधर इनके इतने कम क्यों? उधर तो नंगी औरतों के जुलूस भी निकाले गए, यहाँ क्यों नहीं? तार-तार कर दो इनके कपड़े लत्ते! फाड़ डालो इन सबको भी! इनके मर्दों के सामने। और फिर घुमाओं बाज़ार में। ... उधर तो सुनते हैं हमारी खातूनों के सीने भी काट लिए गए, बाल भी। हम भी इन्हें सालम नहीं जाने देंगे। काट लो एक एक सबका! मूँड डालो सबके बाल।''[16] यहाँ पर लेखक ने मानवीय बर्बरता एवं पाशविकता के यथार्थ का बड़ा ही कारूणिक एवं मार्मिक चित्रण किया है।

लेखक ने 'दूसरा न कोई' और 'दर्द ला दवा' दोनों ही उपन्यासों में वृद्ध जीवन की पीड़ाओं के कटु यथार्थ का चित्रण किया है। दोनों ही उपन्यासों के नायक बूढ़ें है। वे दोनों ही दीन-हीन, लाचार, असहाय, एकाकी और वृद्धावस्था की पीड़ाओं से त्रस्त हैं। इनमें से पहला बूढ़ा तो मकान में नितांत अकेला जीवन से संघर्ष कर रहा है और दूसरा बूढ़ा बियाबान सड़क पर। पहला बूढ़ाशरीर से इतना दुर्बल व लाचार है कि खड़ा भी नहीं हो सकता। मकान के एक कोने से दूसरे कोने में जाने के लिए उसे सरकाना पड़ता है। वह नीचे से नंगा रहता है ताकि वह मल-मूत्र जैसी जरूरी हाज़तों से सुविधापूर्वक निबट सके। वह इतना अधिक दुर्बल, अशक्त एवं लाचार है कि वह जहाँ पर भी होता है, वहीं पर मल-मूत्र कर देता है। कमरे में हर समय उसकी मेंगने बिखरी पड़ी रहती है और जब वे सूख जाती हैं, तो वह उन्हें बुहार कर मरतबान में डाल देता है। कई बार तो वह चूर्ण की गोली की जगह अपनी ही मेंगनी निगल जाता है। उपन्यास में वह एक जगह अपनी इसी लाचारी एवं दीनता को प्रकट करते हुए कहता है कि ''पानी की तरह कुछ काली गोलियाँ भी हर वक्त आस-पास पड़ी रहती हैं। देखने में ये मेरी अपनी मेंगनीं सी हैं। कभी-कभी दोनों में तमीज़ नहीं कर पाता और गोली की जगह मेंगनी निकल जाता हूँ लेकिन पता तब चलता है जब कुछ किया नहीं जा सकता।''[17] मल-मूत्र में पड़े रहने के कारण उसे दुर्गंध से आसक्ति सी होने लगती है और वह उसी में रच-बस जाता है। वृद्धावस्था की ऐसी विवशता, लाचारी एवं दीनता का कटु यथार्थ कोई दूसरा नहीं हो सकता। 'दर्द ला दवा' उपन्यास का बूढ़ा तो इससे भी दो कदम आगे की स्थिति में पहुँचा हुआ है। वह दीन-हीन, लाचार और विवश तो है ही इसी के साथ दर्द में पीड़ित एवं संवेदनशून्य भी है। उसको तो यह भी पता नहीं कि वह मल-मूत करता भी है या नहीं। यदि करता है, तो वह कहाँ चला जाता है। वह तो केवल सामने ही देख पाता है और वह उस दर्द को निरंतर कराह कर ही अभिव्यक्त करता है, यही उसके जीवन की नियति बन जाता है।

कृष्ण बलदेव वैद के अन्य उपन्यासों में भी यह यथार्थ अपने किसी न किसी रूप में, अवश्य चित्रित हुआ है। 'नसरीन' उपन्यास में व्यक्ति की अति कामुकता की भूख के यथार्थ का, 'नर नारी' उपन्यास में दांपत्य जीवन के विघटन के यथार्थ का, 'मायालोक' उपन्यास में सामाजिक विषमता, विघटन और असंतोष के यथार्थ का और 'बिमल उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ' उपन्यास में एक अविवाहित युवक की असंयमित कामेच्छाओं एवं संयुक्त परिवार में विकृत पारिवारिक संबंधों के यथार्थ का स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण हुआ है। इस आधार पर यदि लेखक कृष्ण बलदेव वैद को यथार्थ का साधक कह दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

निष्कर्ष : अंततः कृष्ण बलदेव वैद के उपन्यासों में चित्रित यथार्थ बोध के अध्ययनोपरांत सहज ही कहा जा सकता है कि यथार्थ जीवन का कटु सत्य है। जिस प्रकार व्यक्ति जीवन में न ही तो यथार्थ से बच पाता है और न ही उसको अनदेखा कर सकता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी अपने साहित्य में इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यथार्थ सदैव ही क्रूर, कटु एवं भयावह होता है। लेखक के अधिकांश औपन्यासिक पात्र जीवन के इन यथार्थों को अपने-अपने स्तर पर भोगने पर विवश हैं। इनमें से कुछ पात्र इन यथार्थों को ही अपने जीवन की नियति मान लेते हैं और वे उसी में जीने के आदी हो जाते हैं। इनके 'दूसरा न कोई' उपन्यास का पात्र बूढ़ा, 'दर्द ला दवा' उपन्यास का पात्र बूढ़ा और 'काला कोलाज' उपन्यास की दोहरी माई इसी प्रकार के पात्र हैं, जो अपने जीवन के दुखों और कष्टों को ही अपने जीवन की नियति मान लेते हैं। ये इनसे निकलने के लिए कोई संघर्ष या प्रयास नहीं करते। इसी प्रकार बीरू, बीरू के माँ-बाबा, नौकरानीशानो, उसकी माँ, पारो, बानो, बिमल, नसरीन आदि पात्र अपने जीवन के इन यथार्थों से निरंतर संघर्ष करते रहते हैं। यहाँ पर चित्रित ये यथार्थ, संघर्ष के पर्याय बनकर आए हैं।

◆◆◆

16. वही, पृ0 472-473
17. कृष्ण बलदेव वैद, 'दूसरा न कोई', वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1996, पृ0 25